

खतरनाक है विज्ञापन को नियति बनाना

■ रहीस सिंह

विज्ञापन और बाजार अर्थव्यवस्था आज उस स्थिति में पहुंच चुके हैं जैसे कि ये गंधर्व विवाह कर चुके हों। बाजार तक तो ठीक था लेकिन अब तो सरकारें भी विज्ञापन के साथ कुछ इसी तरह बंधने पर अमादा हैं इसलिए अब कुछ ज्यादा ही असहज महसूस होने लगा है। उत्पाद बेचने वाली बड़ी कम्पनियों की तरह अब सरकारें भी विज्ञापन के जरिए अपनी गुणवत्ता और उपलब्धियों बखान करने पर जोर देती हैं? ऐसे में यह सवाल उठता है कि आखिर विज्ञापन इतना जरूरी क्यों हो गया है? क्या अब यह सूचना का एक माध्यम मात्र है या फिर निर्देशक तत्व? विज्ञापन की अर्थव्यवस्था से जुड़े भाष्यकार जब इस प्रश्न पर आकर ठिठकते हैं कि आखिर विज्ञापन की जरूरत क्यों है या हमें ऐसा क्यों करना चाहिए। हमारी अर्थव्यवस्था में विज्ञापन की भूमिका क्या है? विज्ञापन का उपयोगी उद्देश्य क्या हो सकता है? तो वे अपनी पूरी ऊर्जा खर्च करके कुछ बिन्दु भी पेश करते हैं जिनमें पहला है विज्ञापन रोजगार निर्मित करता है। दूसरा-विज्ञापन विक्रय मूल्य को कम करता

उत्पाद बेचने वाली बड़ी कम्पनियों की तरह अब सरकारें भी विज्ञापन के जरिए अपनी गुणवत्ता और उपलब्धियों बखान करने पर जोर देती हैं? ऐसे में यह सवाल उठता है कि आखिर विज्ञापन इतना जरूरी क्यों हो गया है? क्या अब यह सूचना का एक माध्यम मात्र है या फिर निर्देशक तत्व?

है, तीसरा- विज्ञापन कम्पनी के लाभों में वृद्धि करता है, चौथा-विज्ञापन कम्पनी की सुरक्षा को बढ़ाता है और अंतिम तथा सबसे महत्वपूर्ण है-हमारी विशाल तथा वृद्धिशील उत्पादकता की आवश्यक खपत में वृद्धि लाने का कार्य। हो सकता है कि एडवरटाइजर्स इकोनॉमिस्ट जो कह रहे हैं वह पूरी तरह से सही हो लेकिन इसमें उपभोक्ता कहां खड़ा है इसे तो बताया ही नहीं गया? इस विश्लेषण में दो बड़े झूठ बोले जा रहे हैं और एक तथ्य पूरी तरह से छुपाया जा रहा है। पहला यह कि इससे विक्रय मूल्य को कम करता है और दूसरा कम्पनी के अनुलाभों को बढ़ाता है। ये दोनों ही पहलू एक दूसरे के विपरीत हैं। रही बात मूल्यों की कमी की तो विज्ञापन से विक्रय मूल्यों में कमी आने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हां कम्पनियां अपना लाभ बढ़ा सकती हैं क्योंकि विज्ञापन एक तरह से उपभोक्ता को मनोवैज्ञानिक बंधक बनाकर उन उत्पादों से जोड़ने का षडयंत्र करता है। इसमें उपभोक्ता के हित कितने हैं इस बात को पूरी तरह से छुपाया जा रहा है, इन विज्ञापनों का अंतिम भार उपभोक्ता पर ही पड़ता है और एडवरटाइजिंग ट्रैप में फंसकर धोखे का शिकार वही होता है। लेकिन अफसोस की बात यह है कि इस सच को बताने की जिम्मेदारी जिन एजेंसियों की है वे स्वयं या तो विज्ञापनों के जरिए ही चलती हैं या फिर



उनके साथ स्थायी गठजोड़ बना चुकी हैं।

यह वैश्वीकरण का युग है इसलिए यहां पर हर चीज की कीमत और हर कीमत के साथ लाभ देखा जाता है। इसलिए इस पहलू को नजरंदाज करना शायद अनुचित होगा कि वैश्विक अर्थव्यवस्था में विज्ञापन अर्थव्यवस्था की क्या भूमिका है और उससे भविष्य में किस प्रकार की उम्मीद की जानी चाहिए? एक अध्ययन के मुताबिक वर्ष 2010 के ट्रेंड को देखते हुए यह अनुमान लगाया गया है कि चालू मूल्यों पर (अमेरिकी डॉलर में) वर्ष 2011 में वैश्विक विज्ञापन अर्थव्यवस्था की विकास दर 9.2 प्रतिशत रहेगी। आने वाले पांच वर्षों में आशा की जाती है कि यह वर्ष 2016 तक 7.3 प्रतिशत की औसत दर से बढ़ेगी। लेकिन इस अर्थव्यवस्था में जहां यूरो और येन क्रमशः 1.6 प्रतिशत और 1.5 प्रतिशत की गिरावट दर्ज कराएंगे वहीं चीनी रेनमिनिबी 6.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि दर्ज कराएगी। ऐसी भी उम्मीद है कि वर्ष 2011 में उभरते हुए बाजार, जिनमें अर्जेंटीना, चीन, भारत, कजाकिस्तान और उक्रेन को शामिल किया गया है, विज्ञापन के मामले में सबसे तेज गति से विकास करने वाले साबित होंगे और 2016 तक के वर्षों में अर्जेंटीना, चीन, भारत, कजाकिस्तान और सर्बिया सबसे तेज गति से वृद्धि करने वाले

विज्ञापन पर सरकने वाले देश अब गोता खा रहे हैं और आगे भी खाएंगे। अब जब उभरती हुयी अर्थव्यवस्थाएं इनके कदमों का अनुसरण करेंगी, तब क्या इन उभरती हुयी अर्थव्यवस्थाओं का कल कुछ वैसा ही होने की आशाका नहीं बनती है जैसा कि उक्त अर्थव्यवस्थाओं का आज हो रहा है। माना कि आज वैश्वीकरण ने जीवन को बहुत तेजी से प्रभावित किया है लेकिन जीवन विज्ञापन से तो नहीं चलता ? यही नहीं जीवन को चलाने वाला तंत्र भी विज्ञापन से नहीं चल सकता फिर विज्ञापन को ही भाग्य विधाता बना देने की जरूरत आखिर क्यों पड़ी ? सच बताने के लिए या फिर बहुत बड़े सच को छुपाने के लिए ? बाजार और उत्पादों को लोगों से जोड़ने के लिए या फिर लोगों को बाजार का बंधक बनाने के लिए ? बाजार से लेकर सरकार तक की विज्ञापन के माध्यम से लाभ कमाने की कोशिश एक भ्रम पैदा करती है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से अर्थव्यवस्था के कुछ मूलभूत तत्व-क्या उत्पादित करें (व्हाट टू प्रोड्यूस),

कैसे उत्पादित करें (हाउ टू प्रोड्यूस) और किसके लिए उत्पादित करें (फॉर हूम टू प्रोड्यूस), हैं लेकिन आज ये गौण हो गया और मुख्य हो गया हाउ टू प्रोवाइड या हाउ टू प्रेजेंट (कैसे उपलब्ध कराएं या कैसे प्रस्तुत करें)।

यही कारण है कि बढ़ती हुयी तकनीक के युग में भी उत्पाद की गारंटी को लोप हो गया और उसकी जगह उपभोक्ता को आसानी से ठगने वाला शब्द आया वॉरंटी। इस परिवर्तन पर कोई आवाज नहीं उठी, आखिर क्यों? इस पर कोई सवाल नहीं दागे गये कि जब हम कम विकसित प्रौद्योगिकी के काल की गारंटी अब प्रासंगिक क्यों नहीं रह गयी? गौर से देखें तो पता चलेगा कि उच्च क्षमता वाले कार्पोरेट ने उपभोक्ता को जाल में फंसाने के लिए एक प्रकार से पेशबंदी कर रखी है। कभी आप ने सोचा कि भारत की विशालकाय अर्थव्यवस्था वाली कंपनियों के उत्पादों को बेचने के लिए उपभोक्ताओं के मनोवैज्ञानिक धरातल को बदलना कौन है? ओगिल्वी एण्ड मैथर (एक न्यूयॉर्क आधारित अन्तर्राष्ट्रीय एडवर्टाइजिंग, पब्लिक रिलेशन और मार्केटिंग एजेंसी जिसका जाल दुनिया के 125 देशों में फैला हुआ है); जे वाल्टर थाम्पसन (जेडब्ल्यूटी) जो कि एक न्यूयॉर्क आधारित कम्पनी है और 90 देशों में अपना जाल फैलाए हुए है; मुद्रा कम्प्युनिकेशन, एफसीबी उल्का एडवर्टाइजिंग लि.; मैक्रेन एरिक्सन इण्डिया लि.; ग्रे वल्डवाइड इंडिया प्राइवेट लि.; लियो बर्नेट इंडिया प्राइवेट लि.;आदि नामी-गिरामी एडवर्टाइजिंग कंपनियां।

ये कंपनियां इस समय लगभग सवा चार सौ बिलियन डॉलर का कारोबार कर रही हैं, शेष स्थानीय एजेंसियों की बात तो छोड़ ही दीजिए। एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि ये कंपनियां भारत जैसे देश के लोगों की नब्ज पहचानती हैं। यहाँ के एक विशाल मानव समुदाय के लिए कहीं कोई क्रिकेट का भगवान मौजूद है, कहीं नाचने-गाने वाला किंग खान, तो कहीं दुनिया का सौंदर्य बटोरने वाले वाली ऐश्वर्याएं तो कहीं सहस्राब्दी के नायक...जैसे समाज के पथ प्रदर्शक जो इन कंपनियों से बड़ा धन बटोरकर भारत के लोगों के से अपने नायकत्व का मूल्य वसूलने का कार्य आसानी से कर लेते हैं। खुले शब्दों में कहें तो यह लोगों को ठगने के लिए वैश्विक फर्मों और इन लोगों के बीच एक डील है, लेकिन लोग या तो इसे समझ नहीं सकते या फिर वे समझने के लिए तैयार नहीं होते। इस तरह से खासकर गरीब भारत के लोगों के

हाथों से एक बड़ी राशि भारत के इन पहरुओं से लेकर पश्चिमी दुनिया तक वितरित हो जाती है और हमारा उपभोक्ता ठंडा मतलब कोका कोला से अपनी तमाम हसरतों को पलभर के लिए तो पूरा ही कर लेता है।

टीवी, अखबार, पत्रिकाएं, इंटरनेट से लेकर सड़क के किनारे बसे घरों और सड़कों के डिवाइजों तक हर तरफ विज्ञापनी चौकाचौंध है, जिसे देख-देखकर नजर की बीमारी तो हो रही है बल्कि झूठे दावों और फरेबों को देखकर मानसिक अवसाद की

सरकारें भी विकास का दावा अब विज्ञापन के जरिए करने लगी हैं? यही कारण है कि अब उत्पादों की तरह उनकी गुणवत्ता की भी कोई गारण्टी नहीं रह गयी? रही बात लाभ की तो फिर उनके हाथ में तो बाजार और राज्य दोनों की सत्ताएं हैं। झूठ को नकारने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी चौथे स्तम्भ की है अफसोस वह भी इस मामले में कुछ भी करने में सक्षम नहीं दिखता क्योंकि वह स्वयं इसका शिकार है।

स्थिति भी उत्पन्न होने लगी है। जरा देखिए तो एक पत्रिका अपने नंबर वन होने का मूल्य कंपनी, फर्म या अपने क्लाइंट से वसूलती है (और यू कम्पनियां अपने क्लाइंट्स या फिर सीधे उपभोक्ता से), वही पत्रिका किसी ऐसे ही स्थान पर ठहरे अखबार में अपना विज्ञापन दे देती है,

अखबार का विज्ञापन टीवी पर होता है और टीवी फिर पलट कर अखबार, पत्रिका में और फिर ये सभी एक साथ सड़कों के किनारे लगे बड़े-बड़े होर्डिंग्स पर अपनी आभा बिखेरते नजर आते हैं। अगर इन सबके दावे सच हैं तो फिर इन्हें अपने लिए विज्ञापन की जरूरत क्यों पड़ रही है? इसके बावजूद यदि विज्ञापन की जरूरत पड़ी है तो फिर या तो उनका दावा गलत है या फिर अब वे अपनी गुणवत्ता बनाए रखने में अपने को अक्षम पा रहे हैं। अब इसका जवाब तो वे ही दे सकते हैं, हालांकि बहुत कुछ सच हमें भी मालूम हैं और इस देश के उन उपभोक्ताओं को भी, जो इनके जाल में फंसे हुए हैं।

जब एक पांच साल का बच्चा अखबार या टीवी के विज्ञापन को देखकर तपाक से यह कह दे कि सब झूठ है तो इससे बड़ा प्रमाण और कोई नहीं हो सकता। फिर इसे झूठ की अर्थव्यवस्था पर इतना विश्वास क्यों? इसलिए कि अब इसे नियति मानकर आगे बढ़ने का चलन हो गया है अथवा गुणवत्ता में सुधार लाने की क्षमता नहीं रह गयी है। हालांकि इसका कोई मतलब नहीं है क्योंकि स्थिति सुधरने की संभावनाएं बहुत कम हैं इसलिए विज्ञापन के जरिए मतलब हल करना ज्यादा आसान है। यानी यह सब यू ही चलता रहेगा। लेकिन अब असल डर यह पैदा हो रहा है कि सरकारें भी विकास का दावा अब विज्ञापन के जरिए करने लगी हैं? यही कारण है कि अब उत्पादों की तरह उनकी गुणवत्ता की भी कोई गारण्टी नहीं रह गयी? रही बात लाभ की तो बाजार की राह चलकर वे सब मैसेज कर ही लेती हैं। फिर उनके हाथ में तो बाजार और राज्य दोनों की सत्ताएं हैं। झूठ को नकारने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी चौथे स्तम्भ की है क्योंकि वह इसका सबसे बड़ा माध्यम है, अफसोस वह भी इस मामले में कुछ भी करने में सक्षम नहीं दिखता क्योंकि वह स्वयं इसका शिकार है।

बहरहाल बाजारवादी इसे जो कहें सच तो यह है कि यह एक ऐसा चक्रीय क्रम है जिसका अंतिम छोर टूटना काफी ज्यादा मुश्किल हो गया है। महात्मा बुद्ध के द्वादश निदान वाले चक्र (भव चक्र) की तरह ही विज्ञापनी अर्थव्यवस्था का चक्र भी है जिसके शीर्ष पर अविद्या है लेकिन अज्ञानवश लोग उसे सम्यक ज्ञान (राइट नॉलेज) समझ बैठे हैं। इसलिए इसे भेदने का हाल-फिलहाल में कोई रास्ता नजर नहीं आता। ■

(लेखक जानेमाने टिप्पणीकार हैं)